# मन्वन्तर

श्रीशंभूदयाल सकसेना

बीकानेर
नवयुग-ग्रंथ-कुटीर

१॥)
पहली बार
१९४५

प्रकाशक
नवयुग ग्रंथ-कुटीर
फर्रुखाबाद

मुद्रक
हरप्रसाद वाजपेयी,
कृष्ण प्रेस
२६ हिवेट रोड, प्रयाग।

## यह मन्वंतर !

सयोग की बात, यह 'मन्वन्तर' उस समय प्रकाशित होरहा है जब विश्व सचमुच एक मन्वन्तर की झाँकी देख रहा है। महाप्रलय का अकांड ताडव उपस्थित है। प्रतिपल भूडोल आरहे हैं। झझा के झकोरों में क्या विलीन हो जायगा और क्या बाकी बच रहेगा, यह जानने की सामर्थ्य आज किसमें है ? शतोर्मियो से लहरा लहरा कर प्रलय के ज्वालामुखी की सर्वग्रासिनी लपटें सर्वस्व को आत्मसात् करने के लिए चली आ रही हैं। उनका आज घर-घर मे स्वागत हो रहा है। देशों के प्रागण उनके लिए उन्मुक्त पडे हैं। युवकों के वक्षस्थल उनके आलिगन को तड़प रहे हैं। वे खुशी से आयें और अपने साथ विनाश का वरदान लेती आयें। महानाश के इसी बीज से नूतन सृष्टि के मगलमय अकुर फूटेंगे। प्रलय की इस कालरात्रि के बाद, ओस की बूँदों से गुँथी प्रकाश रश्मियो की माला गले में धारण करके, प्रकृति रानी नवयुग का पहला उत्सव मनायेंगी।

साहित्य जीवन का प्रतिफलन है। जीवन के द्वार पर जो मन्वन्तर उपस्थित है वह साहित्य के मदिर मे भी प्रवेश करेगा। वह बाहर कैसे रह सकता है ? वास्तव मे युग की यही आवश्यकता है—जीवन का यही परम सत्य है। इसे कविता के क्षणो मे अमर न करने वाला कवि जीवन और युग की ओर से विमुख रहेगा। उसकी कला म्यूजियम की वस्तु होकर सुरक्षित रखने योग्य हो सकती है, पर जगत के साथ पग मिलाकर चलने के सामर्थ्य का उसमें अभाव है।

मन्वन्तर के इसी सर्वसंहारकारी रूप का स्वागत करने के लिए विश्व कवि की आत्मा समुत्सुक हो रही है। यह इसलिए नहीं कि मृत्यु कोई वांछनीय वस्तु है या वह कोई क्रीड़ा की सामग्री है, वरन् इसलिए कि उसके पश्चात् नवसृजन की सूचना है। उस नव्य सृष्टि की पूर्व सूचना ने कवि के अन्तराल में आकुलता का महोदधि तरंगित कर दिया है। उन तरंगों पर झूलता हुआ वह उस अभिनव दृश्य की कल्पना कर रहा है। यह कल्पना परम मंगल की आकांक्षा से ओतप्रोत है।

आज धर्म जाति और राष्ट्रीयता के वर्म को छेदकर साहित्य की प्रवृत्ति ने मानवता के कुसुम कोमल शरीर का स्पर्श पा लिया है। अब तक कवि और काव्य जिस दुनियाँ में सत्य की खोज कर रहे थे वह वैभव के आलोक से पूर्ण होकर भी बहुत छोटी थी—संकीर्ण थी। उसके बाहर एक विशाल जगत् का अनुसंधान करके आज कवि की वीणा में छन्द पागल होकर बज रहे हैं। सहज मानव के चरणों में, जिसे कुलीनता, जातीयता, राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिकता, धार्मिकता आदि के दम्भ ने कलुषित नहीं किया है, समर्पित होकर आज का काव्य अपने को कृतकृत्य मानता है। आलोक की ऐसी ही प्रकाशरेखा मन्वतर के अन्तर से झाँक रही है। केवल कवि ही उसे देख पा रहा है। वह तो नई उद्भावनाओं और नई धारणाओं का अग्रदूत है। इसलिए आओ, सब मिलकर मन्वतर के इस महापर्व का अभिनन्दन करें।

कौन जाने मन्वतर के अनुवर्ती इस 'मन्वतर' में भी कोई अनुरूप प्रकाश है? हो तो, मेरा प्रयास व्यर्थ न हो सकेगा।

बसंत पंचमी<br>
संवत् २००० वि०

शंभूदयाल सक्सेना

# सूची





विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी

की

स्मृति में

# ग्रन्थावतार

## मन्वन्तर

अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

ऋक्, साम, यजुष् की वाणी से,
स्मृति-दर्शन-वीणापाणि' इ से,
गौरी, सोमा, कल्याणी से,

देवाधिदेव के चरणों में ले पहला अर्घ्य प्रदान किया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

त्रिष्टुप, गायत्री, गाथाएँ,
नव नव छंदों की भाषाएँ,
संहिता और वे शाखाएँ,

रच-रचकर प्रचुर अर्चना का मधुपर्क नया निर्माण किया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

ऋषियो की वाणी से बरसा,
सविता के मन्त्रों मे ॰रसा,
द्यौ, त्वष्ट्रा, मरुतो ने परसा,

उस अमर भाव थिर चिर नवीन से कृतयुग-रूप विधान किया।
अपने मन्वन्तर मे हमने अनुपम संस्कृति को प्राण दिया।

थे रूपहुला सा महिलाएं,
गंगा यमुना दायें-बायें,
सब निजानन्द में लहरायें,

उनके पावन उपकूलों पर हमने शुभ यज्ञ विधान किया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

कुश-कंटक, सघन अरण्य रहें,
श्वापद प्रवाह निर्बाध बहें,
उन कठिन दिनों की कौन कहे ?

हल-हँसिया ले हो कृषक प्रथम हमने कृषिकर्म प्रमाण किया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

हल की नोका के लेख अमर,
हैं लिखे हुए विस्तृत भू पर,
पग पग नन्दन कानन सुन्दर,

मिट्टी से अन्न, वस्त्र, फल, फूलों का हमने वरदान लिया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

तृण-तृण, कण-कण सश्रम चुनकर,
सायस स्वाग गिरिपथ ऊसर,
जीवन गृह नव्य भव्य रचकर,

इन उभय करों के कौशल ने नवयुग का पथ सन्धान किया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

ईंटें, चूना, मिट्टी, पत्थर,
ले ले वसुधा पर दुर्ग-नगर,
रच दिये सौध, मन्दिर सुन्दर,

आश्चर्य शिल्प सी दिव्य कला को हमने नव उत्थान दिया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

कर दिये यहाँ साम्राज्य खड़े,
ये प्रजातंत्र, गणराज्य बड़े,
जिनके खँडहर ला, अभी पड़े!

शासन, सत्ता, अधिकार, स्वत्व का बहु बहु विधि व्याख्यान किया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

अमिताभ यहीं चलकर आये,
करुणा ने सजल गान गाये,
श्रद्धा में सागर लहराये,

सब मोह-बंध खुल गये जीर्ण जीवन ने नया उफान लिया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

हो उठे मुखर स्वर-ग्राम मौन,
लेखनी चपल, तूलिका, पौन,
पी छके शिल्प सब अमृत कौन?

घर-घर पग-पग उस दिव्य सृष्टि का रम्य रुचिर परिधान किया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

जावा से यानी तक घर घर,
चल फैल गई सभ्यता सुकर,
ये तरुण अरुण मानव के कर,

अनगद चंपा को सौम्य शिल्प का, नव संस्कार प्रदान किया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

सुर्मा, लिच्छिविया, नागा ने,
काश्मीर, सिन्धु भू-भागों ने,
ग्रामों ने, बाग-तड़ागों ने,

अपनी अपनी अंजलि देकर, पूजा का अर्घ्य प्रदान किया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

शक, कुशान, हूणदल चला रहे,
निज निज कुल्मों को जता रहे,
इतना तो सबको पता रहे—

आया ऋषियों ने यज्ञ रचा, हमने पूर्णाहुति-दान किया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

सन के प्राणों की साध यहाँ,
सब का रुचता यह स्वाद यहाँ,
सदियों का शुभ संवाद यहाँ,

अगणित हाथों से गढ़ी राष्ट्र प्रतिमा को रूप प्रदान किया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

ईरानी, यूनानी, पठान,
तुर्की, अरबी, मंगोल-खान,
गजनी, काबुल औ' इस्पहान,

भारत-वेदी पर मिल बैठे, नव दृष्टिकोण संधान किया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

हमने कबीर, अकबर, पाये,
तुलसी, प्रताप, शंकर जाये,
जायसी, सूर, टोडर आये,

मानवता के वे सुफल अमर, जग ने जिनका गुणगान किया।
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

है यहीं कुतुब मीनार खड़ी,
जग-वंद्य ताज की नींव पड़ी,
दिल्ली की किल्ली यहीं गड़ी;

चित्तौड़ दुर्ग के कीर्ति-स्तंभ को, किसने गुरुतर मान दिया?
अपने मन्वन्तर में हमने अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

घर घर मस्जिद-मंदिर सुन्दर,
पग पग किसान-श्रमिकों के घर,
हिन्दू-तुर्कों से भरे नगर,

यह नहीं व्यष्टि का विश्व-सृजन, गौरव समष्टि ने दान किया।
अपने मन्वन्तर में हमने, अपनी संस्कृति को प्राण दिया।

# ब्राह्मण से

ओ ब्राह्मण, ओ वेदज्ञ, ब्रह्म,
ओ अखिल सृष्टि के आदि ज्ञान
ओ महिमा के उत्तुंग शृंग,
ओ तेजपुंज, गौरव निधान!

ओ तप पूत, त्यागी, योगी,
स्वाध्याय निरत, भूसुर महान!
ओ आत्मनिष्ठ, आचार मूर्ति,
ओ संयम के निष्ठुर विधान!

ओ साधक, आराधक, याजक,
ओ शास्त्रकार, चिन्तन धुरीण!
ओ गौरवर्ण, उन्नत ललाट,
ओ अग्निशिखा लोहित नवीन!

शुचि, शांत, सौम्य ओ पूज्यचरण
ओ पुण्यात्मा, ओ विगतराग!
ओ तीर्थ सलिल, ओ शुद्धबुद्ध,
ओ निर्विकार, ओ महाभाग!

तुम मानव जग मे देवसृष्टि,
तुम वसुधा मे साकार स्वर्ग।
तुमसे भव भव में धन्य हुए
सब नर-नारायण वर्ण-वर्ग।

संस्कृति-मंदिर निर्माण किया
कर नव मानवता का प्रसार।
जीवन वाहक बन गये रोक
पाशव प्रवृत्ति मैथुनाहार।

भव-मानव ने कर दिया तुम्हें
अर्पित श्रद्धा विश्वास मौन।
चरणों मे कितना चढ़ा दिया
युग-युग ने गौरव कह कौन ?

सब भुक्ति-मुक्ति अनुगमन तुम्हारा
करने को हो उठी व्यग्र।
चिन्तन-दर्शन के अग्रदूत!
तुम से जग की महिमा समग्र।

गौरव के गौरीशंकर पर
चढ़कर तुम जब तक निरभिमान
रह सके, अटल भू अंबर मे
रक्षित था तव यश-स्वर्णमान।

है याद नहीं वह किसे तुम्हारा
ब्रह्मतेज-सा महा-शस्त्र?
वज्री, प्रलयंकर शंकर भी
हारे जिसके सम्मुख निरस्त्र।

वह तपस्तेज, वह नमित ओज,
दृप्त-स्फुलिंग, वह वह्नि-ज्वाल।
है कहाँ आज हे विप्रवर्य!
वह ज्योति मन्दकर महाकाल?

तुम उठे, उठे उठकर तुमने
छू लिया हिमाचल का ललाट।
तुम बढ़े, बढ़े बढ़कर तुमने
पा लिया विराटों का विराट्।

कुछ पाने को रह गया नहीं
तुमको भावी, गत, वर्तमान।
चरणों में सौ सौ बार अर्घ्य
हो चुका तुम्हारे विधि विधान।

हे ज्ञानवृद्ध, पर कहाँ तुम्हारा
आज अतुल आदर्श रूप?
आवास स्वयं ही बना लिया
क्यों रूढ़िग्रस्त भव अन्धकूप?

सरकृत वाचा मन कर्म भाव
की यहाँ समुज्ज्वल ज्योति रम्य ?
पद पद विगलित हो रही आह !
वह रीति नीति जग-जन प्रणम्य।

जब तक तुम अपने का अपूर्ण
कह बढ़ते जाते थे सतर्क,
आचार विचारों में गति थी
पथ निर्देशक थे सोम अर्क।

वह दुर्घटना थी एक घड़ी,
जब हुआ तुम्हारा दृष्टिरोध।
तुमने नगण्य जग को माना
थे सर्वोपरि तुम निर्विरोध।

वह अहंभाव ही एक तुम्हारा
तुम्हें अतल की ओर खींच
ले गया, पतन की ओर बढ़े
जा रहे तभी से आँख मींच।

उत्कर्ष—सतत उत्कर्ष तुम्हें
पग पग युग युग था सहज प्राप्त।
जो कुछ वाणी से निकल गया
हो गया वही वेदोक्त, आप्त।

पदभ्रष्ट हुए जय से परन्तु
होगये शून्य सब मंत्र-तंत्र।
हे बुद्धिशाली ! निस्तेज मौन
हो पड़ा तुम्हारा ज्ञान-यंत्र।

शापित निर्वापित सा सम्प्रति
वह पश्चलिप्त हो रहा गात,
जो चन्दन से चर्चित अर्चित
पूजित वन्दित था सांध्यप्रात।

है रोम रोम से उमड़ पड़ा
जड़ मोह तुम्हारे आसपास।
तुम धन वैभव से चिपट रहे
अधिकारों के प्रति घिर उदास!

निर्लिप्त भाव अब नहीं रहा
जिससे सुदीप्त था दिव्य भाल।
है कहाँ तुम्हारा त्यागनिष्ठ !
वह सेवा-मंडित अंतराल !

जिसके चरणों की रज पाकर,
हो जाते थे नरपति निहाल।
जिसकी निष्ठा का तप्त सूर्य
तपता था पृथ्वीतल, पताल।

तुम कीड़ो से रेंगते आज
होकर वैभव के क्रीतदास।
तुम त्यागी से भिक्षुक बनकर
दर दर पसारते कर हताश।

हो अतुल ऐषणाओं के पुतले
खो बैठे तुम सार तत्व,
उस आदि सृष्टि का एक मात्र
प्रिय मूल सत्य था जो समत्व।

क्या आज शूद्र से भिन्न तुम्हारी
सत्ता है हे विश्वप्राण!
ये शिखा-सूत्र ही शेष, व्यर्थ
तुम फूँक रहे गौरव विषाण।

तुम अंधकार की अतल गुहा, अब
तुम प्रकाश का नाम शेष।
तुम ज्ञान कर्म-हत, धर्म-च्युत
युग युग की जड़ता के निवेश।

तुम जीर्ण लेख 'गौरव गिरि के,
तुम ध्वंस, ह्रास, मोहान्धकार।
तुम गलित सनातन की छाया
आकंठ-मग्न तुम कदाचार।

ये पुण्य तीर्थ सुन्दरता के
छवि की सीमा ये निर्विवाद।
'ये चित्र शिल्प का एक काव्य'—
जग में यह विश्रुत है प्रवाद।
हो गये मूर्त चिर स्वप्न यहाँ
वपुमान कल्पना पर स्वाद
दे दे, गढ़ दीं मूर्तियाँ अनेक
आकृतियों में भर मदिर स्वाद।
युगयुग की महिमा का प्रसाद,
ये पुण्य तीर्थ सुन्दरता के
छवि की सीमा ये निर्विवाद।

धूप-छाँह छू मंजु समीरण
महता आ जीवन की, अनुक्षन
घसे हेम-नीलम के जल में
घोल घाल नव रूप किरण कण
कलाकार ने ले कूँची में
किया रम्य निर्माण सुरोचन।
हुई अलंकृत धरा पहिन युग
युग के भाव विभाव विभूषण।
विश्व-ताप से तप्त दृगों में
लगा रहा जग शीतल अंजन।
रूप-सृष्टि के इन चरणों में
अर्पित तन, मन, जीवन, यौवन।
धूप-छाँह छू मंजु समीरण

बहता, ले जीवन शिल्पी ने
किया रम्य निर्माण सुरोचन।

हुई रूप की इच्छा जागृत,
छलक पड़ा उर से भावामृत,
आर्द्र हो गये पट प्राचीरें,
शैल हो गये धन्य, समादृत।
नव नव रंगों में स्वरूप नव,
नव आलेख, प्राण नव चित्रित—
सन्ध्या, उषा, अहर्निश, उडु-शशि,
अंबर-सागर, द्विशि पल शतशत,
खग-मृग, जीव-जंतु, नर किन्नर,
तृण, वीरुध, तरु, हिमनग अभिमत
राजा, रंक, रूपसी तरुणी
सहज स्निग्ध सुषमा से पुलकित।
हुई रूप की इच्छा जागृत
शाश्वत जीवन को सुरभित कर
छलक पड़ा उर से भावामृत।

कण-कण रच जीवन का अंकन
किया पूर्ण, सर्वांग सुशोभन।
आज अजन्ता की भीतों से
लिपटा युग युग का मानव मन।
हास-विलास, अश्रु सिसकी सब
कहते निज आख्यान सनातन।

ये पुण्य तीर्थ सुन्दरता के
छवि की सीमा ये निर्विवाद।
'ये चित्र शिल्प का एक स्वप्न'—
जग में यह विश्रुत है प्रवाद।
हो गये मूर्त चिर स्वप्न यहाँ
वपुमान कल्पना पर साकार
दे गये, गढ़ भी स्मृतियाँ अनेक
आकृतियों में भर मदिर शृंगार।
युगयुग की महिमा का प्रसाद,
ये पुण्य तीर्थ सुन्दरता के
छवि की सीमा ये निर्विवाद।

धूप-छाँह छू मंजु समीरण
बहता जो जीवन की, अनुक्षण
उसे हेम-नीलम के जल में
घोल घोल नव रूप किरण कण
कलाकार ने ले कूँची में
किया रम्य निर्माण सुरोचन।
हुई अलंकृत धरा पहिन युग
युग के भाव विभाव विभूषण।
विश्व-ताप से तप्त दृगों में
लगा रहा जग शीतल अंजन।
रूप-सृष्टि के इन चरणों में
अर्पित तन, मन, जीवन, यौवन।
धूप-छाँह छू मंजु समीरण

बहता, ले जीवन शिल्पी ने
किया रम्य निर्माण सुरोचन।

हुई रूप की इच्छा जागृत,
छलक पड़ा उर से भावामृत,
आर्द्र हो गये पट प्राचीरें,
शैल हो गये धन्य, समादृत।
नव नव रंगों में स्वरूप नव,
नव आलेख, प्राण नव चित्रित—
सन्ध्या, उषा, अहर्निश, उडु-शशि,
अम्बर-सागर, दिशि पल शतशत,
खग-मृग, जीव-जंतु, नर किन्नर,
तृण, वीरुध, तरु, हिमनग अभिमत
राजा, रंक, रूपसी तरुणी
सहज स्निग्ध सुषमा से पुलकित।
हुई रूप की इच्छा जागृत
शाश्वत जीवन को सुरभित कर
छलक पड़ा उर से भावामृत।

कण-कण रच जीवन का अंकन
किया पूर्ण, सर्वांग सुशोभन।
आज अजन्ता की भीतों से
लिपटा युग युग का मानव मन।
हास विलास, अश्रु सिसकी सब
कहते नित आख्यान सनातन।

बोल रही आत्मा रगो म
चित्र सुन्दर, रेखाएँ उन्मन।
स्वर्ण, रजत, नीलाभ, कृष्ण ऋजु
वक्र भगिमाओं का दर्शन,
सहज मूर्त मानव सस्कृति की
कर देता साकार पुरातन।
कन कन रच, जीवन का अकन
किया पूर्णतम, लिपटा जिससे
युग युग का आकुल मानव मन।

अज्ञात नाम वे शिल्पकार,
अज्ञात-शील-कुल कलाकार,
है चढ़ा रहा ससार अर्घ्य
वे वदनीय हैं द्वार द्वार।
कर गये तूलिका अमर, अमर
उनकी टाँकी का वार वार।
कदरा क्रोड म राशि राशि
सौंदर्य!—एक स्पर्धा अपार!
रेखा मे इतना रम्य रूप,
रगों का यह मोहक प्रसार!
कल्पना स्तब्ध, कुठित वाणी,
भावना मूक, निश्चल विचार!
अज्ञात नाम वे शिल्पकार
कर गये तूलिका अमर, अमर
उनकी टाँकी का वार-वार!

---

[1]असित

## जीवन-डग

बढ़ते जाते, बढ़ते जाते,
ये जीवन-डग बढ़ते जाते।
थके न कभी, रुके न कभी,
झुकते न कभी, बढ़ते जाते।
ये जीवन-डग बढ़ते जाते।

अब्दों, सदियों, युग, कल्पों में
ये बार बार ढलते जाते।
ये जल थल नभ का भेद छोड़
बस, एक चाल चलते जाते।
उत्थान-पतन गिरि गर्तों में
ये चढ़ते औ' कढ़ते जाते।
ये जीवन-डग चलते जाते।

ये राष्ट्रों में उगते जाते,
संस्कृतियों में जमते जाते,
भाषाओं में ये फैल-फैल कर
सुदृढ़मूल बनते जाते।

यह दुष्प्रेरणा, उसे शाप,
तुमने भी अपना कहा धर्म,
सहगमन मान बैठीं मर्म?
नारी! यह निश्चित पाप कर्म।

यह विधि विधान का भारग्रह
इसको कब भाये पिक-मराल?
इसमें कुश काँटों का अबाध
शासन चलता है सर्वप्रधान।

फूलों का शूलों से विनाश,
शैशव पर पत्थर का प्रहार—
ये कौन धर्म, ये कौन शास्त्र,
कहते इसको जो धर्म द्वार?

प्रिय की वह स्मृति कितनी पवित्र,
कितना अनूप वह स्निग्ध प्यार
नन्दन हो सकता विश्व-सद्म
ढोकर उसका अविराम भार।

ओ मृत्युसंगिनी, एक बार
ठहरो, क्षणभर देखो विचार,
यह नित्य सत्य है लिये कौन—
यह चिताभस्म या मधुर प्यार?



# जीवन-डग

बढ़ते जाते, बढ़ते जाते,
ये जीवन-डग बढ़ते जाते।
थकते न कभी, रुकते न कभी,
झुकते न कभी, बढ़ते जाते।
ये जीवन-डग बढ़ते जाते।

बरसों, सदियों, युग, कल्पों में
ये बार बार ढलते जाते।
ये जल थल नभ का भेद छोड़
बस, एक चाल चलते जाते।
उत्थान-पतन गिरि गर्तों में
ये चढ़ते औ' बढ़ते जाते।
ये जीवन-डग बढ़ते जाते।

ये राष्ट्रों में उगते जाते,
संस्कृतियों में जमते जाते,
साम्राज्यों में ये फैल फैल कर
सुदृढ़मूल बनते जाते।

ये ज्ञानो में, विज्ञानो में
नित नये नये तनते जाते।
फिर दर्शन के झीने पट में
त्रसरेणुरूप छनते जाते।
ये जीवन-डग, ये जीवन-डग,
ये यष्टि सुदृढ़, दुर्बल डगमग,
इनके नाना रूपो से जग।

इनका वसत से मोह नहीं,
इनको पतझड से द्रोह नहीं,
फूलो की इन्हें नहीं ममता,
मन नहीं कहीं इनका थमता।
ये तो अशिथिल अश्रान्त पथिक
निश्चित पथ पर चढते जाते।
ये जीवन-डग बढते जाते।

ये शैशव म करते क्रीड़ा,
यौवन में इनकी श्री व्रीडा,
ये जरा-सुरा के मतवाले
इनका मन राग रग भाते।
खँडहर मे ये जनपद रचते
जनपद अरण्य ये कर जाते।
ये जीवन-डग—सर्वांग सुभग,
बढते जाते,—बढते जाते।

ये नित्य नया, अभिनव, अनुपम
ले नये सुख रचते जाते।
ये नये शब्द, नव सुख, भाषा
नव, नये सुख सजाते जाते।
ये डगर-डगर, ये नगर-नगर,
ये देश-देश रमते जाते।
ये जीवन-डग गमते जाते।

झाड़ी-झाँट कभी, वन-झाड़ कभी,
गृह-वीरुध, उदधि, अथाह कभी,
ये पगडंडी की राह कभी
प्राणों का पट ढकते जाते।
ये जीवन-डग चलते जाते।

मानव है जिसमें एक बूँद,
अम्बुधि अथाह भरते जाते।
संस्कृति निधि की लहर-लहर
ऐसा प्रवाह ये उमगाते।
ये महातिमिर का उर विदीर्णकर
नव प्रकाश-वैभव लाते।
नक्षत्रचय का ये रजत चूर्ण
नभ के अंचल में छितराते।
ये जीवन-डग बढ़ते जाते।

प्रस्तरयुग इनका एक चरण,
बर्बरयुग इनकी शिल्पकला।

इनकी लीला का नाम प्रलय
कृति महासमर इनकी सफला।
ये जीवन-डग व्यापक दुर्धर,
अविराम, अबाध, अरुद्ध, अपर—
स्रष्टा ये अग जग के सुन्दर।
इनके पद-चिह्नों से चिह्नित
अम्बर-सागर सब इठलाते।
ये इच्छा की जलती ज्वाला
जड़ में चेतन करते जाते।
ये जीवन-डग बढ़ते जाते।

# अछूत

ओ अछूत! ओ पंक्ति बहिष्कृत!
तू है भारत के अङ्ग प्राण।
नदियों की अवरुद्ध प्रगति में
ज्वार उठे, आये तूफान।

नर, नारायण का प्रतीक तू
जीवन का अभिशाप अरे!
तू छू सकता क्यों नहीं उसे
जो अनाचार व्यभिचार करे?

तू युग युग से पिसता रिसता
हो गया रिक्त, साधन विहीन।
तेरे शोषण से पीन-पुष्ट
ये फिर उद्धत दर्पित कुलीन।

ओ श्यामवर्ण! पीड़ित, वंचित
ओ सतत क्षुधातुर! ओ विवस्त्र!
तेरे शरीर पर मांस नहीं
तेरे हाथों में नहीं अस्त्र।

तू ज्ञान सभ्यता से वंचित
तू जीवन्मृत, चिर अंधकार।
तू एक बार बढ़ कर हाथों
से खोल रूढ़ि के रुद्ध द्वार।

कोने कोने में नव प्रकाश
भर दे जीवन का नव प्रभात।
इस दलित गलित मानवता की
बीत काली करुणा रात।



## आर्य संस्कृति

उर्वरा आर्य सस्कृति भूपर
गगा यमुना के स्रोत सजल।

ऋषियों के आश्रम, यज्ञ-याग,
तत्वालोचन, चिन्तन, विराग,
वह आत्मशोध का दायभाग,

पीडित, मानवता को विराम
दुस्तर जीवन का पथ सरल।
उर्वरा आर्य सस्कृति भू पर
गगा यमुना के स्रोत सजल।

अत प्रेक्षण कब दृष्टिरोध
हो, बना प्रगति मे जड़ विरोध ?
भूले हम कब कह सुधा बोध ?

अपना सक्रिय वैशिष्ट्य लिए
बहु पार किए हमने जल-थल।
उर्वरा आर्य सस्कृति भू पर
गगा यमुना के स्रोत सजल।

तरु छाया, विपिन अरण्य-वास,
श्वापद-सहचरता, गिरि निवास,
सरि-स्रोत तट, दुर्गम निकाम

पग पग डगमग गिर गिर उठ उठ
हैं सबल हुए ये पग दुर्बल।
उर्वरा आर्य संस्कृति भू पर
गंगा-यमुना के स्रोत सजल।

कंदरा-खोह में कुञ्ज द्वार
कितनी दुष्करता का प्रसार!
है याद आदि यह भव्य भार!

शुचि सहज स्निग्ध मुसकान लिए
इन ओठों ने ही पिया गरल।
उर्वरा आर्य संस्कृति भू पर
गंगा यमुना के स्रोत सजल।

प्रस्तर युग की आकृति विपन्न,
आखेट मात्र ही भोज्य अन्न,
कुसुमित नव मानवता प्रसन्न

रँग उठा विश्व का क्षितिज प्रान्त
निकले युगान्त के चरण चपल।
उर्वरा आर्य संस्कृति भू पर
गंगा यमुना के स्रोत सजल।

लम्बी यात्रा, लम्बा प्रवास,
सदियों की गणना का न त्रास
उस सृष्टि-स्रोत के आसपास—

गिर पड़ा जहाँ पर बीज एक
है खड़ा वहीं पर वृक्ष प्रबल।
उर्वरा आर्य संस्कृति भू पर,
गंगा यमुना के स्रोत सजल।

ऋत अमृत पात्र हम स्वस्थ सजग,
रचते आये नित नवनव मग,
है सृष्टि हमारी ही यह जग,

चीनांशुक में सब पलट दिये
पाये थे पथ में जो वल्कल।
उर्वरा आर्य संस्कृति भू पर,
गंगा-यमुना के स्रोत सजल।

यह नव्य भव्य जीवन विकास,
विज्ञान ज्ञान का शुचि प्रकाश,
सभ्यता-सरित का रम्य रास—

पथ दीप बना, जब प्रलय एक
लीलने खड़ी है विश्व सकल।
उर्वरा आर्य संस्कृति भू पर
गंगा यमुना के स्रोत सजल।

तम तोम घोर तर वज्रपात,
झंझा झकोर, विभ्रांत गात,
क्षुब्ध नहीं हिमालय की बिसात,

आश्वस्त कर रहा एक हाथ
बापू का दे शाश्वत सबल।
उर्वरा आर्य संस्कृति भू पर
गंगा यमुना के स्रोत सजल।

# मोहेंजो दड़ो

तुम विस्मृति के उर में विलीन
कब से सोते थे मूक-मौन ?
इतना अनूप वैभव लेकर
मूल्यांकन तक कर सका कौन ?

सदियों के तिमिरावरण तले
निश्चेष्ट और तुम रुद्धश्वास—
थे समाधिस्थ किस हेतु आह !
किस योग सिद्धि का था प्रयास ?

किस युग के तुम अवशेष जीर्ण,
किस संस्कृति के अधमिटे लेख ?
तुम कल्पों का इतिहास लिए
जीवित हो किसको देख-देख ?

पाषाणकाल से सिसक रहे
उर पर ले मिट्टी का प्रसार ।
जन्मीं, मिट गई सभ्यताएँ,
जनपद बसकर बन गये क्षार ।

अब निद्र शेष तक जहाँ रह
हो गए अटल गगनाग्र अग्र।
नभ-चुंबी वे प्रासाद कहाँ
दृढ़ दुर्ग पड़े सब आज भग्न।

वे आज विजेता कहाँ, उड़े
पग पग जिनके थे ध्वज निशान ?
सब अर्धरात्रि का स्वप्न मात्र
रह गए आज हे महाप्राण !

'मुझे का लेगा' तुम्हें कौन
कहेगा, तुम तो हो चिर सजीव।
जीवनकी शाश्वत चिनगारी पर
तव प्राणों की पड़ी नींव।

वसुधा ने अपना हृदय चीर
जिसको अन्तर में दिया ठौर
तुम युग-युग की संपत्ति सदा
कर सकता तुम्हें न काल कौर।

इतनी मानव अभिलाषाओं का
शिलीभूत सौन्दर्य कहाँ ?
इतना सजीव, इतना सकरुण,
इतना मार्मिक सौंदर्य कहाँ ?

तुम वेद पुरातन—नहीं, नहीं,
तुम तो संस्कृति के आदि काव्य।
मानव प्रयास की प्रचुर राशि
अवलोक चकित सब भूत भाव्य।

दारुण दुर्भाग्य कौन ऐसा
जिससे तुम फिर फिर छले गये?
तुम भूतल के ये शिरोरत्न
किस गहन गर्त्त में चले गये?

हैं याद जलप्लावन कितने
जिनमें तुम अब तक चुके डूब?
भूचालों का अनुमान नहीं
जिनकी हलचल भी रही खूब।

तो भी तुम जीवन का प्रदीप
रख सके सतत यों ज्योतिमान।
तुम धन्य, अंक में लिए रहे
युग-युग की संस्कृति का प्रमाण।

कितनी अतृप्त आत्माओं के
आलिंगन का ले रजत-पाश।
मिट्टी के इन कंकालों में
तुम गूँथ रहे हो अश्रु-हास।

## नव सृजन

श्रम शिला पर पड़ें सृष्टि घन,
उभर उठें जीवन के स्पन्दन।
नयन खोलकर देखा हाँ कवि!
विगलित तन में कैसा यौवन?

फूल धूल में, यही विश्व क्रम,
अमर न मानव, अमर परिश्रम।
कहीं चपल ये कुसुम पतित कर,
चिर सजीव रंग चित्रित अनुपम।

जरा और क्या परिणत यौवन,
मृत्यु कुछ नहीं परिणत जीवन।
कर्म-रूद्ध पलपल नवीन औ'
प्रगतिशील यह विश्व सनातन।

# मानव

सस्कारो से निर्मित मानव, विश्वासो पर अर्पित जीवन।

मव कला, शिल्प, साहित्य अमर
नव गीत, , नृत्य, संस्कार सुंदर

ये चिर स्वतन्त्रता के प्रतीक, सस्कृति उपवन के रुचिर सुमन।
सस्कारो से निर्मित मानव, विश्वासों पर अर्पित जीवन।

कण कण अणु-अणु मधु-गंध भरा
नव सृष्टि-स्रोत कल छद भरा

पुलकित प्राणो से वसुन्धरा, सदियों से सुन्दर सर्ग-सदन।
सस्कारो से निर्मित मानव, विश्वासों पर अर्पित जीवन।

आदर्शो से अनुराग उसे
तथ्यों से सहज विराग उसे

हाथों से प्रतिमा को गढ-गढ, वह करता है उसका वन्दन।
सस्कारों से निर्मित मानव, विश्वासों पर अर्पित जीवन।

वह जीर्ण-पुरातन का प्रेमी
वह नव्य सभ्यता का नेमी

इस रूढि-पथ पथी नर का चिर शाति-क्राति के लिए नमन।
सस्कारो से निर्मित मानव, विश्वासों पर अर्पित जीवन॥

---

स्वामन

लो, चलो सर्वहारा अशेष
तुमको रचनी है नई सृष्टि,
हो जहाँ न प्राणों का विनाश,
हो जहाँ न शोषण की कुदृष्टि।'

लो, सुनो सर्वहारा अशेष
तुमको करने हैं बड़े काम।
फिर नये सिरे से अर्थनीति
निर्धारण करनी है ललाम।
उत्पादन, वितरण के तमाम
साधन का होगा नया रूप।
धरती पर कृषकों का प्रभुत्व,
श्रम के होंगे बस श्रमिक भूप।
होगा न वर्ग-संघर्ष, और
सत्ता का होगा स्वयं अंत।
रहना होगा क्षण-क्षण सतर्क
जी उठे न फिर शासन दुरन्त।
लो, सुनो सर्वहारा अशेष
साहूकारी का हुआ नाश।
दाढ़ी चोटी का जिसे गर्व
हो गया शिथिल वह धर्म-पाश।

लो, मिलो सर्वहारा अशेष
हम एक ध्येय, हम एक जाति।

## पुराकाल

कर मुक्त शताब्दों के गवाक्ष
कवि देख रहा अति दूर—दूर।
होता विराट् है जहाँ क्षुद्र
औ' तथ्य जहाँ बनता सरूर।
वह पुराकाल था अन्धकाल,
वह आदि धर्म था क्रूर कर्म।
आखेट और बलिदान-युग्म
उसकी रक्षा के रहे वर्म।
ककड, पत्थर, रवि, चन्द्र, मेघ,
सरि, सर, तृण, तरु, वीरुध, समीर
किस किस को पूजा नहीं स्वार्थ
प्रेरित मानव ने हो अधीर।
कर मुक्त शताब्दों के गवाक्ष
कवि चला सोचने एक चित्र।
वह पुराकाल था अजय काल
उसका सब कुछ ही था विचित्र।

कर मुक्त शताब्दों के गवाक्ष
कवि देख रहा आँखें पसार
उस शिलाखण्ड की ओट लिए
करता पीछे से कौन वार?

यह विहग व्याध ! होगया शान्त
जो था निरीह, जो था निरन्त !
सब जीने का अधिकार प्राप्त
यह ज्ञान सीख लें करें याद।
कैसा सुन्दर यह पुण्य कार्य
फिर आप शास्त्र-सम्मत विधान !
गायें दुनियाँ हो मस्त क्यों न
अपने भाग्य के सुयश-गान ?
कर शुष्क शाखाओं के गवाक्ष
कवि क्षुब्ध दृष्टि से रहा भाप,
यह पुराकाल था अन्धकाल,
था अन्धज्ञान उसमें अपार !

कर शुष्क शाखाओं के गवाक्ष
कवि झांक रहा वह यज्ञकुंड
अपनी भीषणता से ललाम
था हत हुआ ज्यों रुंड-मुंड।
यह पुराकाल था क्रूरकाल
थे होतागण थे रक्तलिप्सु,
था गया स्वयं ही यज्ञकुंड
हो गये प्रास व मांस इप्सु।
लपलप होती थीं लाल लाल
ये जिह्वा जैसे महाकाल,
साक्षी भी उनकी नहीं आज
प्रभुता-महत्व का क्या सवाल ?

युग युग गायेंगे कीर्तिगान
उसकी महिमा के अनायास।
पर मुक्त शताब्दों के गवाक्ष
कवि देख देख हो रहा स्तब्ध,
बुद्बुद्-सा कैसा हुआ अस्त
साम्राज्य यहाँ वह सहज-स्तब्ध?

पर मुक्त शताब्दों के गवाक्ष
कवि देख रहा अधखिले फूल
सहते हैं पैरों के प्रहार,
सहते हैं काँटों के त्रिशूल।
वह पुराकाल था तमस काल
बलवान यहाँ थे देवदूत।
निर्बल निरीह, कंपित विपन्न
आतंक-राज था घनीभूत।
डाकू पाते थे जहाँ मान
हत्यारों के सिर रहा छत्र।
यवनेश सिकन्दर की सुकीर्ति
लिख रहे खड्ग के रक्तपत्र।
पर मुक्त शताब्दों के गवाक्ष
कवि बाँच रहा है पुराकाल,
जो जीर्ण लेख हो गया स्वयं
खा रहा जिसे कृमि-कीट-जाल।

पर मुक्त शताब्दों के गवाक्ष
कवि हेर रहा वह चिता ज्वाल,

यह धर्मध्वजा है जहाँ कुत्-
सों का भय विपुल जटा जाल।
यह पुराकाल था अंधकाल
नारियाँ रूप का जहाँ माल
बन कर सती जातीं, मनुष्य
होता था पशु से कंगाल।
बाज़ारों में बिकता गुलाम
घर में कैदी फिरतीं जनक,
था पर्दा जहाँ दण्ड दुरन्त
नारी को अबला का कलंक।
कर मुक्त शताब्दी के गवाक्ष
कवि देख रहा है सजल दृष्टि,
जिन पलकों से झरते अजस्र
मोती, वे करते अमृत वृष्टि।

कर मुक्त शताब्दी के गवाक्ष
कवि देख रहा पलकें पसार,
अकबर-सलीम का रंगमहल
औ' शाहजहाँ का पृथुल प्यार।
यह पुराकाल था अंधकाल
औरंगजेब सम्राट्, और
दाराशिकोह का छिन्न शीश
भूलुंठित फिरता ठौर-ठौर।
दारा चौकी में जहाँ धर्म
का निर्णय करती थी कृपाण,

इस्लाम छोड़ था समा कुल
मन कायर के चिर प्राण!
पर गुरु शताब्दों के गवाह
कवि ऐसा रहा न इतिहास,
मार्मी बन कर सब रहे मौन
जो तथ्य आज तक थे न ज्ञात।



# शूद्र

वर्णाश्रम की रीढ़ शूद्रजन
अति श्याम वर्ण, सुन्दर शरीर,
सुगठित, बलिष्ठ भुजदंड, धीर—
मन स्वीय कर्म रत
अविरत,
स्रष्टा समाज, संस्कृति, जीवन।
इनका कृतज्ञ जग का कण कण।

ये कर्मकार, ये शिल्प-स्वस्थ मन,
कर कर ये चिर-तम-ग्रास ग्रास
भरते युग-युग जग-जग प्रकाश
तन होम, रोम प्रति
संसृति,
रच पुर-पट्टन प्रासाद ग्राम
रच शिल्प कल्प आलेख-धाम
गृह राजमार्ग गढ़ तोरण—
सभ्यता शिखर वर वंदन।
ये वर्णाश्रम के प्राण शूद्र जन।

नीच नहीं ये शूद्र, महाजन ।
ये समाज संस्कृति निर्माता
सुविधा को देते स्वरूप वर,
लघु का गौरव सुन्दर,
पारसमणि इनके युग कर
जिनके स्पर्श मात्र से हेम-हीर बनते मृत्तिका औ' पत्थर ।
ये समाज की मांसपेशियाँ, ये दृढ़ बंधन ।
वर्णाश्रम की धुरी शूद्रगण ।

ये वर्षातप, वात ' शीत
सहते सस्मित, अविरल अधीन
ये अथक कार्यरत
पशुवत्
निर्माणलग्न युग-युग से,
ताकते न नभ की ओर, नमित सिर
लखते निश्चल भू पर ।
मन आकांक्षा-मुक्त, रिक्त स्वप्नों से लोचन—
ये समाज का शकट खींचते, सहते बंधन ।
वर्णाश्रम के प्राण शूद्रगन ।

शत वसंत, शत ग्रीष्म, शरद् शत,
शत शत बार हुए अतीत गत,
रहे किन्तु ये अडिग स्थाणुवत
समन्वित

घनित

इनके न अचल मन

भार—निरंतर भार ढो रहे जब तक जीवन।

नंगे भूखे किन्तु न इनके उर में विप-व्रण

ये समाज की नींव शूद्रजन।

जीवन्मृत ये कलाकार

वैभव विलास से निर्विकार,

अविकल्प ध्येय, अविकल्प दृष्टि

आदर्श एक ले लय-सृष्टि—

ये मानवता के उन्नायक,

ये कुशल विश्वकर्मा जीवन सस्कारों से प्रेरित

ये स्वय नीड़ में बस परहित रचते बहु भव्य दिव्य जनपद।

करते पद पद

नित श्रम से वसुधा को पावन।

नीच नहीं ये शूद्र, महाजन।

अनगढ प्रस्तरखंडों को गढ

ये नव नव प्रतिमाएँ सुन्दर

रख देते हैं सन्मुख सजीव-सी स्वय बोल उठने को आतुर,

मंदिर में स्थापित कर जिनको सतत पूजते हैं सवर्णजन।

किन्तु न जाती दृष्टि कभी इनके जीवन पर,

महिमा का यह भवन खड़ा है जिनके ऊपर।

युग युग से दे रहे अर्घ्य प्राणों का पावन,

पतित नहीं ये शूद्र, महाजन।

खड़े अमित जो कुतुब, ताज, मन्दिर, गिरजाघर,
खड़े पिरामिड अपर महीधर,
दर्प-दम्भ जो वर्ग वंश का लेकर गौरव
खड़े लेखते इन्द्र न भृगुयन्
उन सबका कौलीन्य इन्हीं के रक्तमांस से पोषित।
इनकी पूजा करो, यही हैं पूज्य सनातन
त्याज्य नहीं ये शूद्र, महाजन।

यही हली, कृषि-कर्म यही कर
उपजाते बहु अन्न, धान्य, धन।
यही कातते सूत, यही बुनते पाटाम्बर,
जनसमाज के यही क्षुधा-लज्जा-संरक्षक।
द्वापर, त्रेता, कृतयुग से वसुधा का मंथन
करते ये अविराम —
सतत सह-सह उत्पीड़न।
घृण्य नहीं ये धन्य शूद्रजन।
इनकी पूजा करो, यही हैं पूज्य सनातन।

निखिल दैन्य, दुर्भाग्य, दुरित, दुख के ये वाहन
जर्जर तन मन प्राण, आज ये दीन, अकिंचन!
इन्हें उठाओ — इन्हें नरक से लाओ बाहर
भोग भोग कर जिसे, स्वर्ग-सुख बाँटा घर-घर।
हो सकते क्या उऋण इन्हें हम शिरोधार्य कर?
यही आज का धर्म, यही शुभ कर्म यजन,
इनकी पूजा करो शूद्र ये पूज्य सनातन।

# ध्वस्त संस्कृति पर

यह ग्राम वही, यह ठाम वही,
जीवन शिल्पी का धाम वही।
अंकित हरियाली मेन यहाँ,
गंगा-यमुना की रेत यहाँ।
काँटों की काली बाढ़ यहाँ,
सावन घन घटा अगाढ़ यहाँ।
अमरूद यो बरगद पीपल,
ये आम नीम के दल के दल।
ये इमली और बबूल खड़े,
नरकुल के झुरमुट गुँथे खड़े,
बुलबुल गाती, गाते मयूर,
कढ़ गया आज से रहे दूर।

यह परिचित चिरपरिचित प्रदेश!
मेरे बचपन का उपनिवेश।
यौवन का क्रीड़ा धाम सुभग,
प्राणों का पुण्य विराम सुभग।
यह ताल वही जो भरा नीर,
यह विटप वही जो खड़ा तीर।
उस ओर जलाशय के सुन्दर
सारस की जोड़ी गोले पर
जा रही उड़ी सरसर फरफर।
वह कौन पड़ा सिर नीचा कर?

रंगा, भरा, पुष्ट कहा कहाँ!
क्या नहीं यहाँ था पूर्ण भरा!
मन्दिर प्रांगण में शीश मस्जिद—
से पुलकित हर्षित था अविरल।
वह पूर्णिमा, वह शुभ दिन,
हर्षित ज्ञान-गरिमा शुचि दिन।
क्या प्रतिमा वह स्नेह-मूर्ति,
नर-नारी की विश्वास पूर्ति।
चिर अर्चित चर्चित, अर्च्यनाम।
सक्षित दिन ले वरदान गान
क्या पड़ी हुई आहत अवनत
विषन्नाग और वह क्षतविक्षत?

वह कहाँ गया पावन मंदिर
युग-युग की जिसमें श्रद्धा थिर?
वह कहाँ गई चूड़ा उन्नत?
व स्वर्ण कलश जो शुभ्र सतत?
थी मस्जिद भी ता यहीं एक,
सादगी रूप, प्रतिमा विवेक—
श्रद्धा रहती थी जहाँ सदा,
वह पाक पवित्र प्रशान्ति प्रभा।
कपिया की सी ऋजुता सचित
वह श्वेत श्मश्रु मुल्ला परिचित।
अब नहीं दीखते मुझे यहाँ,
व जड़ चेतन खोगये कहाँ?

वे कहाँ गये मोहन, मुनीर ?
वे कहाँ गये रहमत, बशीर ?
वे कहाँ गये मुरली, चदन ?
वे कहाँ गये जीवन, नन्न ?
यह तो भारत का ग्राम नहीं,
हिन्दू मुस्लिम का नाम नहीं !

पीते थे बैठ यहीं हुक्का,
बुड्ढे हकीम लिखते रुक्का
कुछ सोच साच, कुछ रुक रुककर
फिर देख भेख, फिर झुक झुककर।
वेगम, खानम, रानी बेटी
चलती, फिरतीं, सोतीं, लेटीं
वे स्वप्न आज हो गई कहाँ ?
हँस खेल खेल खो गई कहाँ ?
पचांग खोल, गिन मीन-मेष।
झट देख देख कर हस्तरेख।
करते जो भूत-भविष्य कथन।
थे यहीं ज्योतिषी पचानन।
थी शिशुशाला भी यहीं खड़ी।
घंटे बजते थे घड़ी घड़ी।
आँखों के आगे अमर वही।
जो चिह्न शेष तक नहीं रही।
यह टूट गया कच्चा मकान
यह भग्न पड़ी पक्की दुकान

जल गई झोपड़ों की कतार
उड़ रही जहाँ पर शुष्क छार।

असंख्य किसान, धावा, कुम्हार,
ठाकुर, बाम्हन, मोदी, लुहार,
बढ़ई, नाई, धोबी, कहार,
कायथ, अहीर धुनिया, चमार
क्या आज किसी के चिह्न शेष?
जो चलते फिरते थे अशेष,
जो रहते थे सब यहाँ सतत,
हो गये काल के साथ विगत!
वे कहाँ गये, वे कहाँ गये?
वे परिचित सब, अब नये नये!
वे नर नारी, वे बाल-वृद्ध!
वे स्नेह स्निग्ध, वे मोह बद्ध!
अपने अपने का मधुर चाह,
तेरे मेरे की क्रूर डाह!
सब जीते जी की आह-वाह
मिट गई, न बाकी वह, प्रवाह।
घर आँगन कब्रिस्तान बने,
मंदिर मस्जिद वीरान बने।
सब हिन्दू-मुस्लिम साथ-साथ
सो गये यहीं पर अमर गाथ!

ये शत्रु-करों के अमिट लेख
रह गये, न कोई बची रेख

जल गई झोपड़ा की कतार
उड़ रही जहाँ पर शुष्क क्षार।

बसते किसान, धाघी, कुम्हार,
ठाकुर, बाम्हन, मोदी, लुहार,
बढ़ई, नाई, काछी, कहार,
कायथ, अहीर, धुनियाँ, चमार
क्या आज किसी के चिह्न शेष ?
जो चलते फिरते थे हमेश,
जो रहते बसते यहाँ सतत,
हो गये काल के साथ विगत।
वे कहाँ गये, वे-कहाँ गये ?
वे परिचित तन, मन नये नये।
व नर नारी, वे बाल-वृद्ध।
वे स्नेह स्निग्ध, वे मोह बद्ध।
अपने अपने की मधुर चाह,
तेरे मेरे की क्रूर डाह।
सब जीते जी की आह-वाह
मिट गई, न बाकी वह प्रवाह।
घर-आँगन कब्रिस्तान बने,
मन्दिर मस्जिद वीरान बने।
सब हिन्दू-मुस्लिम साथ-साथ
सो गये यहीं पर अमर गाथ।

ये शत्रु-पर्रा व अमिट लरा
रह गये, न कोई वर्चा रत्न

घर घर जीवन के अमर चरण
करदें ज्योतित अन्तों के क्षण।
यह महानाश, यह रुद्र प्रलय,
हो उठा आज तो मंगलमय!

## इतिहास

जग को यह इतिहास
चाहिए नहीं, कि जिसमें सम्राटों के गीत।
दस्युओं की गाथा अविनीत,
न जन-जनपद के अश्रु पुनीत।
विजय के गीत,
समर उद्घोष,
प्रचण्डाक्रोश,
जिगीषा, हिंसा का व्यापार।

यह विपाक इतिहास
उठा दी घर-घर में प्राचीर।
जन जन से औ' जाति जाति से
वंश वंश से भिन्न।
देश देश से, राष्ट्र राष्ट्र से,
हृदय हृदय से भिन्न।
छिन्न कण कण,
अणु अणु विच्छिन्न।
न समता लेश,
प्रेम निश्शेष

जाति, राष्ट्र, कुल वर्ग, वर्ण
मन कल्पित नाम !

यह अद्भुत इतिहास !
छुएगा इसका कौन अभाग ?
सिकंदर का यह करता मान,
पराजित नाग का अपमान
जबकि दोनों ही व्याघ्र समान
कर गये लाखों का बलिदान !
खून से रँगे हुए हैं पृष्ठ,
खड्ग से लिखा हुआ दास्तान !

फाड़ फेंको इतिहास !
हमें तुमसे, तुमको हमसे करता जो दूर
दे रहा वर्गवाद को जन्म,
घुटी के साथ,
न जिसके पास मिलन-संदेश,
न जिसके साथ प्रेम-सद्भाव
फूट ही जिसका मोहनमंत्र,
विभाजन प्राण !
यह राष्ट्र-जाति उत्थान
आज किसका कर्तृत्व ?
क्या लगे नहीं इसमें अर्बुद भर प्राण ?
मिट नहीं गये क्या कोड़ों से पिसकर,
घिसकर मानव-समूह अम्लान ?

आह भी जिनके सुख में कमी नहीं
किन्तु कहाँ वे आज, कहाँ उनके स्मारक ?
ये ताज, स्तूप, ये दुर्ग, भवन, आलेख
कहो किसके आँसू से निर्मित ?

कहाँ है वह इतिहास ?
भुला कर शाहजहाँ का तख्त
छोड़कर जहाँगीर का पानपात्र
युग युग के लोकजीवन का अश्रु-हास
चित्रित करदे यथार्थ।
श्रेणी-वर्ग हो न जहाँ
वर्ण-राष्ट्र हो न जहाँ
जनता जनार्दन हो ;
कृषक, श्रमिक, सन्त, कारीगर हों समस्त
एक ध्येय, एक ध्यान,
एक ज्ञेय, एक ज्ञान।
पक्षपात हो न रंच
एक वाणी, एक कंठ,
एक तानपूरे पर,
गाये जायँ गीत जन-जन के।
होगा वही इतिहास,
सत्य शिव सुन्दरम्—होगा वही इतिहास !

# अंतेवासी

ओ ज्ञान-मानसर के मराल!
ऋषि आश्रम के अधखिले फूल!
था राम श्याम जिनका पुनीत
आचार्यत्व की चरण धूल!
ओ सत्यकाम जाबाल! आज
वह कहाँ यज्ञ का गंध धूम,
वेदी पर तनता था वितान
उन्मत्त मत्त सा घूम घूम?
थे सरस्वती के उभय कूल
बहते थे जीवन का प्रवाह,
पर महाज्ञान का विमल स्रोत
भरता ही था आया अथाह।
तुमने समिधा चुननी अवश्य
संध्या से पहले महाभाग!
पर यज्ञपुरुष क्या हुआ तुष्ट
लोलुप है अब भी रक्त राग।

तुम आदि पुजारी एक बार
तुमने अरण्य को प्राण दान—
देकर, जीवन को स्वर्ग तुल्य
सा उठा दिया महिमा-महान!

लेकर जिज्ञासा के प्रसून
मार्ग प्रभात तुम स्वयं मौन,
होठों पर मन्त्रोच्चार स्तब्ध
प्राणों में उत्सुक प्रणति कौन?
घर गुरुकुल में तुमने प्रवेश
मयन का जो दृढ़ शिलान्यास
कर दिया,—विश्व का रोम रोम
क्या भूल सकेगा अनायास?
हे हरे-भरे अश्वत्थ, और
घट लिए स्वयं हैं जटा भार,
आँखों में तिरता है अतीत
साँसों में संचित विगत प्यार।

था मननशील, कैसा अपूर्व
गंगातट का वह प्रथम प्रात!
प्राची के रवि के साथ साथ
तुम प्राप्त हुए थे शुभ्र गात।
ऋजु रूप, सौम्य शोभन स्वरूप
साधनाकुंज के पारिजात,
वरदान उषा के से अनूप
होगया धन्य द्रुम पात-पात।
वह मुंज-मेखला से निबद्ध
कटि-देश, विश्व का लिए त्राण
रत सत्य शोध में सतत लीन
हो उठा आप ही तो महान।

किरणों में आभा का प्रसार
पुलिनों में पैरों के पुनीत
हैं निखे लेख, मकृत प्रदेश
गा-गाकर तव उद्गीथ-गीत।

तुम कुशासीन, जागृत-समाधि
ऋषि याज्ञवल्क्य के आसपास
ले कभी तीर्थजल, कभी पुष्प
पहुँच रहते हो अनायास।
सामश्रवादि, क्या तुम्हें जीर्ण
कर सकता है यह जीर्ण काल?
सदियों के फलकों पर विशाल
जाज्वल्यमान वह भव्य भाल।
वे अग्निहोत्र के उभय पार्श्व
ले जहाँ स्रुवा तुम समासीन।
भरते हैं जीवन में प्रकाश
उर-ज्योत्स्ना में आशा नवीन।
श्रद्धा की प्रतिमा सहज सौम्य,
आचार-साधना के प्रतीक।
तुमसे सब विद्यापीठ धन्य
तुम ब्रह्मचर्य की स्वर्ण-लीक।

तुम युग युग के पथ के प्रदीप
ओ युवा मनस्वी, विश्वरूप!

तुम सृष्टि-बीज का यह भाग
रह रह बन छाया और धूप ।
तुम भरद्वाज, गौतम, अगस्त्य
औ' कपिल-कण्व के कृपा-पात्र ।
तुमसे सतयुग का प्रथम भाग
तुमसे द्वापर का पुण्य गात्र ।
तुम मर्यादा के कीर्ति-चिह्न ,
तुम गार्गी के ज्ञान-कोष ।
तुम से ही थीं काशी प्रयाग
युग-युग से पाप बहे लोप ।
तुम युग-विराट के साथ-साथ
रहकर भी चिन्तन में प्रवीण ।
ऐ प्रकृति-पुजारी, क्यों अरण्य
की छायावन तुम आज क्षीण ?



# विक्रम महान्

विक्रम, तुम थे सम्राट्—राष्ट्र
का आत्मा के सम्राट, सत्य।
कहता है सदियों का प्रवाह
कहते हैं बिखरे हुए कृत्य।
हो जायें यदि इतिहास मौन
मिट जायें यदि सब शिलालेख,
तो भी क्या धूमिल रक्तवर्ण
हो सकती है यह अमरलेख?
खाता है खाये कालदंश
है अमर राष्ट्र का यश-स्तम्भ
उसके चरणों में लोट लोट
मिल गये धूलि में दस्यु-दम्भ।
डोली धरणी, डोले पहाड़,
उन्मथित सिंधु का अन्तराल,
तो भी तुम अविचल रहे किन्तु
साक्षी है विस्तृत पुराकाल।

साक्षी है जन, जनपद, जहान,
साक्षी युगयुग का कीर्तिगान।
किस पुण्य कृत्य का भव्य रूप
बन उदित हुआ विक्रम महान।

विक्रम महान् है एक भाव
प्रेरणा, एक विक्रम महान।
विक्रम महान जब था सजीव
अपने भावों युग साथ ध्यान।
है एक महान भावना शीर्ष
जिसका युग है जीवन स्थान।
विक्रम महान के समय रूप
है प्रकट विश्व में सर्व-स्थान।
विक्रम महान सम्पुष्ट विराट्
युग राष्ट्र-चेतना में प्रवीण।
जागरों पाकर हो गई परम
संस्कृति-शालिनी की पुण्य-लीक।

है बीत गया वह साहसांक
पर मृत्यु-हीन जीवन-विलास।
चिर-नव वर्षों के साथ साथ
लेकर आता है मनोल्लास।
स्मृतियाँ पुरातन मानचित्र
उन चरणों से आसिंधु, वीर।
जिनकी आहट पा शत्रु-सैन्य
विचलित हो भहराती अधीर।
घोड़ों की टापों के निशान
लेकर विभोर हैं शिलाखंड,
पग-पग मग-मग सर्वत्र गूँज
दिग्विजय-गीत उठते प्रचंड।

# विक्रम महान

विक्रम, तुम थे सम्राट्—राष्ट्र
की आत्मा के सम्राट्, सत्य।
कहता है सदियों का प्रवाह
कहते हैं बिखरे हुए कृत्य।
हो जायें यदि इतिहास मौन
मिट जायें यदि सब शिलालेख,
तो भी क्या धूमिल रक्तवर्ण
हो सकती है वह जयरेख?
खाता है खाये कालदंश
है अमर राष्ट्र का यश स्तम्भ
उसके चरणों में लोट लोट
मिल गये धूलि में दस्यु-दम्भ।
डोली धरणी, डोले पहाड़,
उन्मथित सिंधु का अन्तराल,
तो भी तुम अविचल रहे किन्तु
साक्षी है विस्तृत पुराकाल।

साक्षी है वन, जनपद, उद्यान,
साक्षी युगयुग का कीर्तिगान।
किस पुण्य कृत्य का भव्य रूप
बन उदित हुआ विक्रम महान।

विन्ध्याचल, हिन्दूकुश, हिमाद्रि
विक्रम गाथा के सुकवि मूक।
मरु, गुर्जर, मालव, महाराष्ट्र
सब उसी काव्य से रहे कूक।

विंध्याचल, हिन्दूकुश, हिमाद्रि
विक्रम गाथा के सुकवि मूक।
मरु, गुर्जर, मालव, महाराष्ट्र
सब उसी काव्य में रहे कूक।

# नालंदा

था जगमग तू अत्यन्त
उज्ज्वल भारत का ज्ञान-दीप।
बौद्ध-दर्शन की हुई नींव
तेरे ही चरणों के समीप।
नहीं सिर्फ था तब एक
ज्ञान आते दृष्टि से आन-बान।
तेरे प्रांगण से पला पुष्ट
विद्या का पावन पुण्य स्थान।
तू प्रकाशित कर ज्ञान-भाग
होगया तीर्थंकर महाभाग!
हो गये अमर जिनके प्रचार
था तेरी वाणी का पराग।
तू धन्य, जिसने यह तमा जाल
को एक बार फिर दे संदेश।
भारत के गौरव का अपूर्व
दे सका विश्व का अतुल तेज।

विद्या का पावन पुण्य पीठ
रह गया ; एक ध्वंसावशेष।
स्मृति में तेरा वैभव अपार
मिलता है लेकर स्वप्न शेष।

# ताजमहल

लिख गया प्रेम का अमर काव्य
वह शाहजहाँ था कवि महान।
यमुना की लहरों के समीप
है उसके मृदु उर का प्रमाण।
मर्मर निर्मित है ताज—आह!
यह तथ्यज्ञान कितना कठोर।
तुम नहीं देख पाते प्रवाह
लेकर बहती उर की हिलोर!
प्रेमी-नयना की अश्रुराशि
जम गई श्वेत हिम के समान।
ये गुम्बज, ये मीनार भव्य
हैं उस उभार के उर्म्मि-गान।
'मानव जीवन है एक आह'—
यह रो उठते पत्थर उदास।
'है किन्तु प्रेम का अमर सत्य'
इंगित कर गाता चन्द्रहास।
यह ताज बढ़ी चिर काल सत्य
शाश्वतता का निश्चित प्रमाण।
कवि शाहजहाँ के हृदय-बीच
पाये इसने चिर रूप प्राण।
यह ताज सेतु है जहाँ मौन
हा मिले मृत्यु-जीवन सहास।

कण कण इसका है अश्रुसिक्त
औ' रोम-रोम पावन प्रकाश।
वह शिल्पी से भी था महान-
जिसके स्वप्नों का यह शरीर।
वह कहाँ प्रिया मुमताज आज
रोता प्रेमी का उर अधीर।

* * *

सम्राट् नहीं सम्राट्, दीन
है वह दुर्भाग्य-समीप हाय!
कहने को जहाँपनाह किन्तु
वह बच्चों सा ही मृत उपाय।
वह प्राणप्रिया ले गया छीन
है क्रूर काल दुर्जय महान,
पीपल सा उठता हृदय काँप
उसके विलोक दृग वह्निमान।
आहत प्राणों से एक चीत्
आँखों से कढ़ती अश्रुधार।
लेगया कहाँ तूफान हाय!
स्वप्नों का वह स्वर्णिम प्रसार?
मादक यौवन की एक रात
भी कहीं बीत पाई, परन्तु
निष्ठुर अदृष्ट के क्रूर हाथ
आ तोड़ गये वह स्नेह-तन्तु?
बुद्बुद्-सा जीवन पा उफान
आते आते हो गया लीन।

सम्राट शून्य में रहा झाँक
वह कहाँ प्रिया की कंठ-वीन?
अपने हाथों से उसे आज
कर दिया धरा की भेंट हाय!
जो रहती थी उर के समीप
उसको पाने का क्या उपाय?
किससे पूछें मन पता आह!
जीवन का कैसा है रहस्य?
यह तुलना मदिरा के समान,
यह उड़ता टाकर शुष्क हास्य!

*  *  *

"क्या शाहजहाँ के साथ साथ
ओ प्रिया! तुम्हारी मधुर याद
इस धरा धाम से हो विलीन
पा जायेगी मन की मुराद?
यह कैसे सोचेगा दिमाग,
कैसे मानेगा सद्विचार?
हो सदा भाग्य की सहज जीत
औ' शाहजहाँ की हार—हार!
क्या इतना अस्थिर प्रेम-सत्य,
क्या यही प्रणय का सुपरिणाम?
आलिंगन से मुमताज छीन
ले जाय प्रिया का छीन नाम!
सोओ प्रेयसि! तुम यहाँ मौन
यह मर्मर की रचकर समाधि।

क्या कभी पा सकेगी प्रवेश
इस प्रेम-कुञ्ज में आधि व्याधि ?
इसकी छाया में सौम्य शांति
का चिर विलास ही सहज सत्य।
लो प्रणय सुधा पी चार घूँट
लेटो, ओ जीवन की सुकृत्य !
पहरा देता है जहाँ प्रेम
है भाव-सिंधु परिखा विशाल।
इस शुभ्र शिल्प के आसपास
आते डरता है महाकाल।
जीवन प्रवाह हो जाय क्षीण
धूमिल हो डूबे सृष्टि-साज।
चिर नव वसंतश्री से सदैव
यह पूर्ण रहेगा प्रथित ताज !"
❀ ❀ ❀
कर प्रेमलोक की नई सृष्टि
दे गया विश्व को शुभ्र ताज।
था शाहजहाँ प्रेमी अनन्य
कर याद दग्ध मानव-समाज।
उर में उठती है एक हूक
है रोम-रोम में तीव्र आह।
सोकर भी दोनों पास पास
हैं कभी कभी उठते कराह।
कब्रों के भीतर मधुर टीस
या कभी कभी आता उफान

भावी वियोग से व्यथित प्राण
लहराते चपला के समान।
मर्मर से झरते अश्रु धार
जिनसे घुलता रहता विषाद।
जीवन के क्षण क्षण का हिसाब
लेकर आती मधु मदिर याद।
है नहीं आज तन की सम्हाल
मन का अनुशासन हुआ दूर।
मिट्टी में करके उन्हें धाक
क्या जड़ कर पाई भाग्य क्रूर?
आलिंगन को बेसब्र प्राण
हैं बार बार उठते मसोस।
चू पड़ती है दो-चार बूँद
शशि की किरणों से स्निग्ध ओस।
यह ताज एक मंदिर पवित्र
है प्रणय-देवता का प्रशान्त।
उर की श्रद्धा ले यहाँ नित्य
पूजा करते प्रेमी अशांत।

# विश्वभारती

विश्वभारती, तू कवीन्द्र का
एक स्वप्न अभिराम—
मूर्त स्वप्न, पाश्चात्य प्राच्य के
मधुर मिलन का धाम।

पुंजीभूत धूम्र, ज्वाला से
ज्वलित विश्व के प्राण,
विश्वभारती, आज तुही
आहत आत्मा का त्राण।

तेरे शांतिनिकेतन में फिर
उठा पुरातन जाग।
ऋषियों के आश्रम का पग पग
फैला पुण्य पराग।

क्षितिज-कूल विश्रांति-कुंज में
पूर्व उषा का राग
शिलीभूत हो गया, तपस्वी का
तप तेज विराग।

ज्ञान-दान की परंपरा का
उज्ज्वलतम इतिहास,
फिर से लिखने चला काल भर
प्राणों का उल्लास।

विश्वभारती के मंदिर में,
कला, ज्ञान, विज्ञान,

एक साथ फूटा भारत के
घर का था रस-गान।

देश देश के ज्ञान-कुसुम की
छाई मृदु सुवास।
शुष्क वल्लरी में जीवन का
आया फिर मधुमास।

संस्कृतियों के इस प्रयाग में
मिले असंख्य प्रवाह,
व्यस्त विश्व-मानव कृतार्थ पा
दिव्य शान्ति-सुख छाँह।

धर्म, जाति, कुल, वर्ण, राष्ट्र का
यहाँ पूर्ण अविचार।
मानवता का पूजन होता
सतत मुक्त नव द्वार।

निशिदिन कला, साहित्य, शिल्प बहु
दर्शन, ज्ञान, विचार
महिमान्वित हो उठे तोड़ कर
रूढ़ि पाश दुर्वार।

ओ कवीन्द्र की दिव्य साधना
विश्वभारती! धन्य!
इस वसुधा में कहाँ अनुपमे!
तेरी समता अन्य?

---